



बिहार के अतीत एवं वर्तमान का तुलनात्मक चुनावी विश्लेषण

बिहार की राजनीति को जितना समझने का प्रयास किया जाय उतना ही उसका सिरा हाथों से छूट जाता है। आम बिहारी राजनीति में गहरी रुचि रखते हैं। बिहार के चौक-चौराहों-चौपालों पर होने वाली परिचर्चाओं का सामान्य विषय देश-दुनिया की प्रमुख राजनीतिक गतिविधियाँ ही होती हैं। उन परिचर्चाओं में अपने अजब-गज़ब तर्कों से लोग सामने वाले को हतप्रभ करने की कला में माहिर होते हैं। बिहारी स्वाभावतः विद्रोही होते हैं। लीक छोड़कर चलना उनकी फ़ितरत होती है। प्रायः बिहारी मुखर होते हैं। उनका प्रेम और उनकी घृणा दोनों मुखर होती है। कहा जाता है कि बिहारी परिवर्तन के वाहक होते हैं। पर विडंबना यह है कि हर परिवर्तन सुंदर-सुखद नहीं होता। और हर नारा और दावा हकीकत नहीं। जिस बिहार ने मगध का उत्कर्ष देखा, जो बिहार बुद्ध-महावीर-चाणक्य की कर्मस्थली रहा, जिसने चंद्रगुप्त और अशोक जैसे शासकों को रचा-गढ़ा, जो स्वातंत्र्य-आंदोलन में गाँधी के उदय की पूर्व-पीठिका बना, जो आपातकाल थोपे जाने के विरुद्ध छेड़े गए संपूर्ण क्रांति का सशक्त संवाहक और सूत्रधार बना, उसी बिहार ने लालटेन का अपराध और अंधकार-युग भी झेला। कहा जा सकता है कि स्वातन्त्र्योत्तर बिहार राजनीति के अभिशापों का शिकार अधिक रहा। गरीबी, हिंसा, अपराध, अपहरण, अराजकता, बेरोज़गारी, भदेसपन, मसखरापन ही बिहारियों की पहचान बना दी गई और भोले-भाले, मेहनतकश बिहारी उसी पहचान को अपना भाग्य मान अपनाते चले गए। जो उस पहचान से असहमत थे या स्वयं को उसमें मिसफ़िट पा रहे थे, उन्होंने पलायन को सुअवसर मान किनारा कर लिया।

भारतीय राजनीति विचारधारा से अधिक चेहरों पर केंद्रित होती है। बिहार ने भी राजनीति के कई चेहरों को माँजा-चमकाया। चेहरे तो चमके, ख़ूब चमके, मय परिवार चमके, पर बिहार अपनी चमक खोता चला गया। ऐसे चेहरों में सबसे बड़ा चेहरा लालू यादव का रहा। आज भले लालू यादव का तिलिस्म टूट रहा हो, पर एक दौर में उनका जादू लोगों के सर चढ़कर बोलता था। जहाँ अपने समर्थकों के लिए वे सामाजिक न्याय के अग्रदूत और गरीबों के मसीहा थे वहीं विरोधियों के लिए वे राजनीति के कलंक और अंधकार युग के जनक और प्रवर्तक रहे। एक साथ इतना धुर समर्थन और इतना धुर विरोध शायद ही किसी अन्य राजनीतिज्ञ को झेलना पड़ा हो।

जो बिहार कभी अपनी समृद्ध विरासत, गौरवशाली अतीत और अधुनातन बौद्धिकता के अग्रदूत के रूप में जाना-पहचाना जाता रहा, उसे लालू ने अपने अलहदा अंदाज़, अनगढ़ मुहावरे और अनूठी

मसखरेबाजी से न केवल सर्वथा भिन्न एवं परंपरा से पूर्णतया इतर पहचान दिलाई बल्कि संपूर्ण देश में 'बिहारियों' को भी इस नई पहचान का पर्याय बना डाला। जिन्हें इस पहचान से आपत्ति थी, उनके लिए 'बिहारी' होना धीरे-धीरे शर्म और 'उपहास' का विषय बनता चला गया। एक ऐसा भी दौर आया जब यह संबोधन पिछड़ेपन एवं जाहिलता के प्रतीक के रूप में प्रयुक्त किया जाने लगा, जिसके दबाव में रोजी-रोटी की तलाश में राज्य से बाहर आए मार-तमाम लोग आनन-फानन में दिल्ली-हरियाणा शैली की हिंदी बोल अपनी 'बिहारी' पहचान को छुपाने की असफल चेष्टा करने लगे। कामकाजी दुनिया में 'बिहारी' लोगों को कभी सीधे 'लालू' बोलकर तो कभी उन जैसी हिंदी बोलकर चिढ़ाया जाने लगा। अपनी पहचान, अपनी अस्मिता के गाली बन जाने की बेचैनी और अकुलाहट को केवल वही समझ सकता है, जिसने इसे झेला और भोगा हो। बिहारियों के लिए उपेक्षा, उपहास और अपमान का अभियान चलाने वाली स्वार्थी-क्षेत्रवादी मानसिकता की पड़ताल फिर कभी, किंतु आज यह जानना आवश्यक है कि लालू-राज के प्रत्यक्ष एवं परोक्ष परिणाम क्या-क्या हुए, उसका तत्कालीन एवं परवर्ती सामाजिक-मनोवैज्ञानिक प्रभाव कैसा रहा ?

बिहार मुख्यतः अपनी बौद्धिक-साहित्यिक-सांस्कृतिक सक्रियता एवं सजगता के लिए जाना जाता रहा है। परंतु यह वह दौर था, जब जातीय घृणा की फसल को भरपूर बोया गया, खाद-पानी देकर बड़ा किया गया और उसे बार-बार काटा गया; यह वह दौर था, जब विकास का पहिया प्रतिगामी गति से घुमाया गया। जो बिहार को जानते-देखते रहे हैं, उन्हें अच्छी तरह याद होगा कि तब लोग सूर्यास्त होते ही अपने-अपने घरों में दुबककर बैठे रहना पसंद करते थे, अंधेरा होते-होते दुकानों के शटर गिरने लगते थे, थोड़ी भी देर होने पर परिजनों के चेहरों पर चिंता की लकीरें खिंचने लगती थीं, अपहरण कुटीर उद्योगों की तरह बिहार के शहर-शहर, गली-गली में विस्तार पाने लगा था, तब स्टेशनों, बस अड्डों, चौक-चौराहों, घरों-दफ्तरों-दुकानों में देश-दुनिया की चर्चा की बजाय किसी-न-किसी उभरते रंगबाज़, गैंगस्टर, क्रिमिनल की चर्चा होती थी और सबसे खतरनाक स्थिति यह थी कि बड़े होते बच्चे किसी सुंदर-सलौने-स्वस्थ सपनों को सँजोने, कुछ मानवीय, कुछ बेहतर करने के बजाय एक रंगबाज़, गैंगस्टर या अपराधी बनने का सपना पालने लगे थे। किसी समाज के पतन की यह पराकाष्ठा होती है कि वह अपराधियों में नायकत्व की छवि देखने और तलाशने लगे। उस दौर में सभी जातियों के अपने-अपने अपराधी-नायक थे, समाज उन अपराधियों के पीछे बँटता और लामबंद होता चला जा रहा था। लोगों को लालू यादव में भी एक नेता की कम, एक दबंग जातीय सरगना की छवि अधिक दिखाई देती थी। लालू भी "भूरा बाल साफ करो" जैसे नारे उछाल भूमिहार, राजपूत, ब्राह्मण, लाला(कायस्थ) जैसी जातियों पर सीधे हमला बोल रहे थे। उनके स्वजातीय दबंगों एवं अपराधी प्रवृत्ति को लगने लगा था कि इन जातियों को प्रताड़ित कर वे सूबे के मुख्यमंत्री के कृपा-पात्र बन जाएँगे। यहाँ तक कि उस दौर में हर गाँव, हर इलाके में कुछ दबंग यादव नेता उभरे। जिनकी हनक और धमक, रौब और रुतबा उन दिनों पुलिस-प्रशासन से भी अधिक हुआ करता था। नेता और अपराधी का भेद मिटने लगा था।

संस्थाओं का जातीयकरण होता गया और जातिवाद की आड़ में भ्रष्टाचार एक संस्कृति बना दी गई। भिन्न जाति वालों से विशेष वसूली को सामाजिक न्याय का ज़ामा पहनाकर महिमामंडित किया जाता रहा। कोढ़ में खाज का काम इस वामपंथी नैरेटिव ने किया कि जिनके पास पैसा और ज़मीन है वे लूटे-खसूटे जाने लायक ही हैं। भ्रष्टाचार और जातीयता एक-दूसरे के पर्याय बन गए और उनका

संस्थानीकरण होता चला गया। भ्रष्टाचार एक नियामक और मान्य सत्ता बनती गई और गरीबों के मसीहा व उनके स्वजातीय अनुयायी एक नवीन-उदीयमान शोषक सत्ता के रूप में रूपांतरित व स्थापित होते चले गए। जिसका परिणाम यह हुआ कि उद्योग-धंधे बंद होते चले गए, बड़े व्यापारी राज्य छोड़कर अन्यत्र चले गए, सक्षम-प्रतिभाशाली लोग पलायन कर गए और जो बचे, वे या तो छोटे-मंझोले कृषक या श्रमिक समाज से आते थे। कालांतर में रोज़ी-रोटी के लिए बड़ी संख्या में उन किसानों-मजदूरों का भी बिहार से पलायन हुआ। होते-होते एक दिन ऐसा भी आया कि यादवों और मुस्लिमों (भाजपा विरोध की हठधर्मिता के कारण) को छोड़कर बिहार की सभी जातियों का उनसे मोहभंग हो गया। और लालू का सामाजिक न्याय जाति से होता हुआ अंततः परिवार तक सिमटकर रह गया।

अचरज नहीं कि जैसे हर युग का अवसान होता है, सो लालू-युग का भी अवसान हुआ। काठ की हांडी जैसे बार-बार नहीं चढ़ाई जा सकती, वैसे जातिवाद की राजनीति भी हमेशा सत्ता नहीं दिलाती। जाति पेट की भूख से बढ़कर तो नहीं। यादव और मुस्लिम समाज में मज़बूत पैठ रखने वाले लालू जी को भी एक दिन अपदस्थ होना पड़ा। नीतीश कुमार के नेतृत्व में एक नई सरकार बनी, जिसके पहले कार्य-काल में बहुत-से अच्छे काम हुए, उम्मीद जगी, उन पर विश्वास भी बढ़ता गया। संगठित अपराध पर लगाम लगा। उद्योग की तरह पनपा अपहरण बिहार के लिए बीते दिनों की बात हो गई। सड़क एवं यातायात व्यवस्था में आमूल-चूल सुधार हुआ। उनका दूसरा कार्यकाल औसत रहा। उनके तीसरे कार्यकाल का पहला वर्ष गठबंधन की बेमेल राजनीति की भेंट चढ़ गया। और शेष वर्षों में भी सरकार के प्रदर्शन ने प्रभावित करने के स्थान पर निराश ही अधिक किया। हाँ, यह अवश्य है कि गठबंधन का घटक होने के नाते केंद्र की नीतियों, कल्याणकारी योजनाओं एवं कार्यक्रमों का लाभ स्वाभाविक रूप से बिहार के सत्तारूढ़ दल को भी मिलता है। मुख्यतया सड़क, बिजली, पानी पर केंद्र सरकार द्वारा किए गए कार्य का सीधा लाभ नीतीश कुमार को मिलता रहा है और इस बार भी निश्चित मिलेगा। जिस मोदी को रोकने के लिए कभी नीतीश ने एड़ी-चोटी का ज़ोर लगा रखा था, आज वही उनके चुनावी रथ को विजय की ओर ले जाने वाले मुख्य सारथी हैं।

यह शोध का विषय है कि लालू यादव के कुशासन और जंगलराज के विरुद्ध सर्वाधिक मुखर एवं निर्णायक संघर्ष छेड़ने के बावजूद भाजपा अभी तक बिहार में मुख्यमंत्री का चेहरा दे पाने में क्यों विफल रही है? सत्ता में आने के बाद से ही बिहार बीजेपी के सबसे बड़े नेता सुशील मोदी की धार और चमक चुनाव-दर-चुनाव कुंद होती चली गई। किसी और को भी गढ़ पाने में बीजेपी लगभग असफल रही। रामविलास पासवान के जाने के बाद बिहार की राजनीति में कोई उस कद का दलित चेहरा भी फ़िलहाल नहीं है। चिराग़ पासवान की वास्तविक परख और परीक्षा इस चुनाव और इसके बाद ही होगी। तेजस्वी यादव पिता की विरासत और जनाधार की ज़मीन पर खड़े तो अवश्य हैं, पर मुख्यमंत्री के विकल्प के तौर पर वे नीतीश की तुलना में काफी कमज़ोर, नौसिखिए और अपरिपक्व नज़र आते हैं। शेष जितने भी नेता हैं, वे सत्ता की असीम आकांक्षा और महत्त्वाकांक्षा तो रखते हैं पर उनका जनाधार कमोवेश उनकी जाति के कुछ हिस्सों तक ही सीमित रहा है। छोटे-छोटे दलों के बीच हुआ चुनाव पूर्व गठबंधन चुनाव बाद के सत्ता समीकरणों और सौदेबाजी के लिहाज़ से भले महत्त्व रखता हो, पर उनसे ठोस, सार्थक एवं परिवर्तनकारी विकल्प बनने की उम्मीद रखना बेमानी है।

यहाँ यह कहना भी अनुचित नहीं होगा कि केवल सत्ता बदल जाने मात्र से किसी राज्य में वांछित व

बुनियादी बदलाव नहीं लाया जा सकता। व्यापक एवं स्थाई बदलाव के लिए शासन-प्रशासन की शैली और कार्यसंस्कृति में आमूल-चूल सुधार करना पड़ता है। केवल चेहरा नहीं, अपितु चाल और चरित्र भी बदलना पड़ता है। बिना उसके बिहार के विकास की कामना केवल दिवास्वप्न है, अकाशकुसुम है। भ्रष्टाचार और जातिवाद बिहार को लालू-युग में भी दीमक की तरह खोखला करता रहा और कमोवेश आज भी कर रहा है। बिहार के कायाकल्प के लिए ठोस एवं व्यापक सामाजिक-राजनीतिक-प्रशासनिक सुधार समय की माँग है। सत्ता या व्यक्ति के बदल जाने मात्र से बिहार के भाग्य को बदल पाना मुमकिन नहीं। बिहार को यदि सचमुच अपना भाग्य बदलना है तो उसे सबसे पहले जातीय जंजीरें पिघलानी होंगी। जातिवादी जकड़न से बाहर आकर एक उदार, दूरदर्शी, संवेदनशील, सर्वसमावेशी राजनीतिक नेतृत्व तलाशना होगा। जातिमुक्त, स्वस्थ, सुंदर, उदार, सहयोगी समाज की रचना करनी होगी। शिक्षा-व्यवस्था में आमूल-चूल परिवर्तन और निवेश करना होगा। पलायन आधारित अर्थरचना की बजाय आत्मनिर्भर और स्वावलंबी व्यवस्था खड़ी करनी होगी। निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि बिहार का लालू-कालीन अतीत यदि अंधकारमय रहा है तो वर्तमान शिथिल व गतिशून्य और भविष्य अनिश्चित। परंतु बिहार सदा से नवीन राहों का अन्वेषी एवं युगीन-गतिशील व्यवस्थाओं का पोषक रहा है। सपनों और सरोकारों को साकार करना उसे आता है। घटाटोप अँधेरों के बीच भी आलोक-पथ पर सधे हुए क़दम बढ़ाने का दम-खम उसमें रहा है। राजनीतिक पंडितों के लिए भी यह देखना दिलचस्प होगा कि वह अपने भविष्य का सारथी किसे और क्यों चुनता है? यह भी निश्चित है कि बिहार चुनाव के परिणाम देश की राजनीतिक दिशा तय करने में निर्णायक एवं महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करेंगे।

प्रणय कुमार

गोटन, राजस्थान

9588225950